मिथक

(मिथ या मिथक शब्द का अर्थ है–परम्परागत, पौराणिक या लोक विश्वासमूलक सन्दर्भ। मिथक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनके पीछे पूर्वधारणा या विश्वास की शक्ति निहित होती है। ये सन्दर्भ हमारी तर्कबुद्धि द्वारा पुष्ट एवं प्रमाणित नहीं होते किन्तु काव्य सत्य को भली-भाँति पुष्ट एवं अभिव्यक्त करते हैं। इनकी इस क्षमता का कारण यह है कि लोक मानस में गहरी जड़ होने के कारण नये माध्यम से सम्प्रेषण अधिक सरल एवं प्रभावी होते हैं। आज के तर्क प्रधान युग में मिथक जैसे अतार्किक संरचना के औचित्य के विषय में प्रश्न किया जा सकता है किन्तु सही बात यह है कि लोक-मानस मिथकों के बिना रह नहीं सकता। उसे बुद्धि एवं तर्क से ऊपर उठाकर कुछ ऐसा चाहिए जिसे वह पूरे हृदय से स्वीकार करे। ऐसी बहुत सी बातों को बुद्धि प्रधान युग अन्धविश्वास अथवा किंवदन्ती कहकर अस्वीकार कर सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि अधिकांश पुराने मिथक एक नये युग की दृष्टि में कपोल कल्पना के रूप में अनुपयुक्त सिद्ध कर दिये जायँ, फिर भी मिथकों का महत्त्व कम नहीं होने वाला है। नये मिथक पुराने मिथकों का स्थान ले लेते हैं। पुराने मिथक कुछ समय तक दबे अथवा अप्रचलित रूप में पड़े रहते हैं। अवसर आने पर पुराने और अप्रचलित से पड़े हुए मिथक पुनः नये सन्दर्भ एवं नवजीवन प्राप्त कर लेते हैं।)

मिथक का स्वरूप विकास–अँग्रेजी शब्द 'मिथ' को ही हिन्दी में 'मिथक' कहा गया है। यह शब्द यूनानी के 'माइथोस', लैटिन के 'मिथस' का ऋणी है। कोशीय अर्थ में 'मिथक' परम्परागत तथा अनुश्रुत कथा है जो किसी अतिमानवीय तथाकथित प्राणी या घटना से सम्बन्ध रखती है। विशेषतः इसका सम्बन्ध देवताओं, विश्व की उत्पत्ति तथा विश्ववासियों से होता है। यह एक ऐसा विश्वास है जो बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। हिन्दी में 'मिथ' का यही अर्थ है। सामान्यतः मिथ एक मिथ्या कथा है। फ्रेजर, हेरिसन, कार्नेफोर्ड आदि ने मिथक के सर्जनात्मक पहलुओं को आगे बढ़ाया है। फ्रायड और उसके अनुयायी मिथक को स्वप्न का सजातीय मानते हुए उसे इच्छापूर्ति का एक विधान स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार हमारा अवचेतन मन

सदैव अपनी दमित इच्छाओं को स्वप्नों अथवा दिवास्वप्नों के द्वारा पूरा करता है उसी प्रकार पुराकाल में आदिम मानव अपनी राग द्वेषजन्य इच्छाओं, प्रेमजन्य वासनाओं तथा मृत्युजन्य संत्रास की भावनाओं को मिथकों के रूप में प्रतिफलित करता था। ग्राहम हॉफ की धारणा है कि "मिथक किसी विशिष्ट भाषिक संरचना में बँधा नहीं रहता। एक ही मिथक की विभिन्न भाषिक अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं।" अधिकांश मिथक अर्थ-मिथक होते हैं तथा प्राकृतिक व्यवस्था तथा ब्रह्माण्ड की आदिम व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। शास्त्रीय लेखकों के पास एक बना-बनाया मिथकशास्त्र होता था। आज लेखकों ने अपना मिथकशास्त्र स्वयं तैयार किया है ताकि उन्हें अपने विश्वासों का संवाहक बना सकें।

मिथक को आदिम मनुष्य की चेतना का प्राथमिक सर्जनात्मक बिम्ब कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विवाद है कि भाषा पहले अस्तित्व में आयी अथवा मिथक। विको के मतानुसार भाषा की उत्पत्ति सांकेतिक अभिव्यक्ति से हुई है, मिथक भाषा विकास की मंजिल है, जबकि हरडर के मत में भाषा का आविर्भाव मिथक से हुआ है। मैक्समूलर मिथक की उत्पत्ति भाषा से मानता है और मिथक को भाषा का रोग कहता है। कैसिरर ने भाषा और मिथक की उत्पत्ति एक साथ मानी है। युंग ने इसे सामूहिक आद्य बिम्ब की संज्ञा दी है। सामूहिक अवचेतन गुह्य, गम्भीर और व्यापक होता है, अत: इस आधार पर इसे 'डीपस्ट्रक्चर' कह सकते हैं जिसकी अभिव्यक्ति मिथक है। फ्रान्सीसी समाजशास्त्री दुर्खीम के मतानुसार मिथक का सम्बन्ध प्रकृति से न होकर समाज से है, जबकि मलिनोव्स्की का कहना है कि मिथक न प्रकृति के प्रति चामत्कारिक प्रतिक्रिया है, न विगत का आलेख। उसका प्रयोजन सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण और संचालन है। रेनेवेलेक की दृष्टि में इस शब्द का अर्थ निश्चित कर पाना आसान नहीं है, यह एक अर्थ क्षेत्र का संकेत है। रिचर्ड चेज काव्य को मिथक और मिथक को काव्य मानते हैं। काव्य और मिथक एक ही मानवीय आवश्यकता से उद्‌भूत होते है। उनमें एक ही प्रकार की प्रतीकात्मक संरचनाएँ होती हैं। मिथक के प्रति इस पक्षधरता से चेज को कुछ समालोचक मिथक का दीवाना भी कहते हैं। श्रीमती लैंगर ने कला को मिथकीय चिन्तन से जोड़ा है। पूरी-कथाएँ आदि स्वयं में कला नहीं है, वे कला के लिए कच्चा माल हैं। मिथक की प्रकृति ऐसी है कि उसे विशिष्ट शब्दों या भाषा में बाँधना आवश्यक नहीं हैं।

मिथक और साहित्य–मिथक आदिम मनुष्य का यथार्थ है, जबकि साहित्य सभ्य मनुष्य का यथार्थ है जिसमें उसका अपना उद्देश्य और दृष्टिकोण

भी समाहित है। साहित्य मिथक नहीं है, किन्तु साहित्य में उसका साभिप्राय प्रयोग होता है। साहित्यकार मिथकीय बिम्बों द्वारा आदिम विश्वासों को नया रूप देता है और सम्प्रेषण की समस्या का समाधान करता है। डॉ० रमेश **कुन्तल मेघ** कहते हैं कि ''मिथक मानवजाति का सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव है और स्वप्न एक व्यक्ति की सुप्त आकांक्षा।'' मिथक प्रागैतिहासिक घटना या आस्था है। मानव चेतना मिथकीय चेतना से ही विकसित होकर यथार्थवादी चेतना में परिणत होती है, अत: मिथक मनुष्य का आदिम काव्य है। मिथक की अन्तर्भूमि चिन्तन नहीं हैं, अनुभूति है। इसमें आस्था से अधिक विश्वास का आग्रह है और यही वह भूमि है जिस पर मिथकीय कल्पना का हवामहल खड़ा होता है। सामान्यत: पृथ्वी, क्षितिज आदि शब्द धरती के वाचक हैं, किन्तु काव्य में प्रयुक्त होकर ये अपने अर्थ की सीमाओं का अतिक्रमण करके अनन्त अर्थ की सम्भावनाओं से जुड़ जाते हैं, पृथ्वी व्यापकता का प्रतीक बन जाती है। मिथक भाषा की सर्जनात्मक उपयोगिता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि ''मिथक तत्त्व वस्तुत: भाषा का पूरक है। सारी भाषा ही इसके बल पर खड़ी है, साहित्य में मिथक अनंत अनुभवों का विश्लेषण है।''

लोकजीवन के साथ निकटता से सम्बद्ध होने के कारण आधुनिक युग में धर्म, लोक-साहित्य, मानव विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनोविश्लेषण तथा ललित कलाओं के अन्तरानुशासनिक अध्ययन के विकास के साथ मिथकों का महत्त्व बढ़ गया है। काव्य के सन्दर्भ में मिथक को एक ऐसे आख्यानमूलक सन्दर्भ की संज्ञा दे सकते हैं जो कविता को विशिष्ट पौराणिक एवं विश्वासमूलक सन्दर्भों के साथ जोड़कर उसके अर्थ का विस्तार करता है। मिथक आधुनिकता को परम्परा के साथ जोड़कर तथा परम्परा को आधुनिकता के सन्दर्भ में रखकर आलोचेय बनता है। मिथक अतीत से सम्बद्ध होता है। मनुष्य का जितना भी चिन्तन है, उसका अधिकांश भाग अतीत से ही सम्बन्धित होता है। नित्य नवीन कल्पना की आधारभूमि भी अतीत ही है। इस कारण काव्य में मिथक के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अँग्रेजी में पहले मिथ (Myth) शब्द का प्रयोग देवी-देवताओं की गाथा के लिए होता था जिसकी ऐतिहासिकता भले अविश्वसनीय हो किन्तु लोकमत जिस पर विश्वास रखने का अभ्यस्त हो चुका हो, किन्तु धीरे-धीरे प्रख्यात वीरों से सम्बन्धित कथाएँ, लोक-प्रसिद्ध चरित्र एवं लोक विश्वासों से जुड़ी घटनाएँ ये सभी मिथ के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार मिथ या मिथक लोकमान्यता, विश्वास या धारणाओं पर आधारित पौराणिक, अर्द्ध-पौराणिक

या किंवदन्तीमूलक सन्दर्भों, चरित्रों, क्रियाओं तथा वस्तुओं का वाचक बन गया। 'क्वेस्ट फार मिथ' पुस्तक का लेखक रिचर्ड चेज उपन्यास के सन्दर्भ में मिथ का स्वरूप बतलाते हुए कहता है–''मिथ शब्द को परिभाषित करना सरल नहीं है, किन्तु वह एक अनिवार्य तथा आवश्यक शब्द है और इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।'' अपने जन्म के समय से लेकर 17वीं शताब्दी तक उपन्यास प्रमुखत: साहित्य का एक सामाजिक रूप रहा है। इस कारण जब इसमें मिथकीय तत्त्वों का सन्निवेश हुआ तो मिथ का स्वरूप स्वाभाविक रूप से राजनीतिक, सामाजिक या अधिक व्यापक रूप से सांस्कृतिक रहा है। यह मानवीय अनुभव के सांस्कृतिक और साथ ही वैंयक्तिक चरम बिन्दुओं को स्वीकृत करने तथा महत्त्व देने का माध्यम है। जन्म, जीवन, आदर्श, मित्रता, विवाह, मनुष्य, प्रकृति अथवा वीरों की अतिमानवीय शक्तियों के प्रति भावात्मक रुझान द्वारा इसे महत्त्व प्रदान किया जाता है।

इससे लगता है कि मिथक का धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन से उतना गहरा सम्बन्ध नहीं है जितना कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन से। सभ्यता के प्रारम्भिक युग में आदिम मनुष्य की मिथकीय परिकल्पना बड़ी समृद्ध थी। मिथ आदिम मनुष्य की धार्मिक एवं आध्यात्मिक कल्पना क्षमता का प्रमाण है। रूप के प्रसिद्ध साहित्यकार मैक्सिम गोर्की इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिसे आदिम मनुष्य की धार्मिक रचनात्मकता की संज्ञा दी जाती है वह वास्तव में उनकी कलात्मक रचनात्मकता है जिसमें धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता का लेशमात्र भी योग नहीं है।

What has been termed the 'religious creativity of primitive man', was in essence artistic creativity, without the least admixture of mysticism.

गोर्की के अनुसार मिथ मौलिक रूप में कलात्मक क्षमता का प्रमाण है। प्रचीन मिथकों से पता चलता है कि प्रारम्भिक मनुष्य किसी दूसरे देवी-देवताओं को नहीं जानते थे। जीवन के विविध क्षेत्रों में दक्षता के आधार पर वे किसी स्त्री या पुरुष चरित्र को अति मानवीय गरिमा प्रदान करते थे। वीरता, पौरुष तथा हिंसक पशुओं को पराजित कर देने की सामर्थ्य को ही उन्होंने हरक्यूलिस या सैमसन का नाम दे डाला। गोर्की के अनुसार आदिम मनुष्य की यह मिथकीय प्रवृत्ति आत्म-शिक्षण की एक सफल एवं कलात्मक पद्धति थी। धार्मिकता और आध्यात्मिकता जैसी बातें बाद में जुड़ गयी।

गोर्की का यह कथन काफी सीमा तक सही है कि मिथक किसी जाति की कलात्मक क्षमता का निदर्शन करता है किन्तु उसका धर्म के साथ सम्बन्ध

झुठलाया नहीं जा सकता। लोककथाओं की तरह मिथ भी प्रधानतया औपन्यासिक आख्यान है। दोनों का अन्तर इस बात में निहित होता है कि मिथ अति प्राकृतिक जगत की कहानी है तथा धार्मिक विश्वासों की सी विशेषता रखता है।

Myths like folktales are primarly novelistic tales, the two are to be distinguished only by the fact that myths are tales of supernatural world and share also therefore the characteristics of the religious complex.

धर्म से मिथक का घनिष्ट सम्बन्ध होने का प्रधान कारण यह है कि धर्म भी दूसरे जगत या परलोक की आधारभूमि पर ही स्थित होता है और अतिलौकिक या अतिमानवीय तत्त्वों का योग उसके साथ अनिवार्य होता है। इसके साथ ही कभी-कभी मिथक सीधे धर्म के नायकों के साथ ही प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होता है। फिर भी इसकी रचना में लोकवार्ता के तत्त्वों का योग अधिक रहता है तथा इसके अध्ययन में लोकवार्ता का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। मिथकशास्त्र के अध्ययन को लोकवार्ता से कभी अलग नहीं किया जा सकता, इसकी अतिलौकिक कथाएँ, इसके कथानक के रूप और यहाँ तक कि इसकी विशिष्ट घटनाएँ भी प्रचलित लोकवार्ता में विद्यमान रहती हैं।

इस प्रकार मिथक एक ओर धर्म से सम्बन्धित होता है तथा दूसरी ओर इसका सम्बन्ध लोकवार्ता से है। धर्मनिरपेक्ष लोकवार्ता की ही तरह मिथ भी जनता के इच्छामूलक चिन्तन का वाहक होता है। धर्मनिरपेक्षता नायक संस्कृति के आदर्श मनुष्य का चित्र प्रस्तुत करता है। मिथकशास्त्र अपने रचयिताओं को प्रायः विशिष्ट महापुरुषों के रूप में या पुराणपुरुष के रूप में अथवा अवतारी पुरुष के रूप में प्रस्तुत करने के लिए विख्यात रहा है।

प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश का आदमी अपने समाज की यान्त्रिक जीवनधारा से असन्तोष का कुछ अनुभव करता है, उससे सन्तुष्ट हो जाना आदमी का स्वभाव नहीं रहा है। फलतः आदमी के मन में कुछ इच्छाएँ रहती हैं, कुछ सपने होते हैं, उनकी एक रूपरेखा होती है जिसके अनुसार वह सब कुछ देखना चाहता है। इसी प्रयास में उसकी कल्पना क्षमता विकल्प के रूप में मिथकीय जगत का निर्माण करती है। जो चरित्र उसके सामने वर्तमान है उनमें अपनी अभिलाषाओं की चरितार्थता न देखकर वह मिथकीय चरित्रों की कल्पना करता है। इस कल्पना पर उसके देश की भौगोलिक दशाओं तथा नैतिक स्तर का प्रभाव निश्चित रूप में पड़ता है। इसी कारण मिथकों की भिन्नता स्वाभाविक होती है।

वास्तव में मिथकशास्त्र या माइथोलाजी एक अत्यन्त व्यापक शब्द है। यह 'माइथास' (Mythos) तथा 'लोगस' (Logos) दो शब्दों के योग से बना है। माइथस का अर्थ आख्यान तथा लोगस का अर्थ विमर्श होता है। माइथोलाजी या मिथकशास्त्र किसी जाति विशेष या सामान्य मानव-समाज के परम्परागत आख्यानों का अध्ययन है। इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में इन आख्यानों की समग्रता के बोध के लिए भी किया जाता है। अधिकांश जातियाँ इस प्रकार की परम्पराएँ रखती हैं जो कभी-कभी उन जातियों के महाकाव्यों तथा दूसरों काव्य रूपों में लिखित रूप में अभिव्यक्त होती हैं तथा कभी-कभी विशेषतः अशिक्षित एंव अर्द्ध-शिक्षित जातियों में मौखिक परम्परा एवं विश्वासों के रूप में मिलती हैं जिनका अध्ययन आधुनिक विद्वानों द्वारा किया गया है। इन अध्ययनों में यह पाया गया है कि शासकों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आने वाली इन मौलिक परम्पराओं का रूप प्रायः निश्चित रहा है। चाहे वे छन्द में हों या छन्दरहित हों।

मिथक का उद्भव—अँग्रेजी विश्वकोष में मिथक को पारस्परिक आख्यान का एक अनिवार्य अंग बतलाया गया है और पारस्परिक आख्यान के तीन वर्गों का उल्लेख किया गया है—

1. मिथ (Myth)
2. उपाख्यान या पौराणिक कथा (Legend)
3. लोक कथा (Marchen or folktales)

पारस्परिक आख्यानों के तीन वर्गों मिथक, उपाख्यान तथा लोककथाओं में से मिथक का सम्बन्ध धार्मिक प्रथाओं से होता है। इसका सम्बन्ध जगत को सृष्टि से लेकर पर्वतों के आकार ग्रहण करने तक के अत्यन्त विविध प्रकार के प्राकृतिक परिदृश्यों तथा पूजित देवताओं अथवा अतिमानवीय सत्ताओं के अनुमानित चरित्र से होता है। उपाख्यान या पौराणिक कथा एक प्रसिद्ध इतिहास है जिसके पीछे युद्ध या आक्रमण जैसी कोई वास्तविक घटना निहित होती है जिसने सामान्य जनभावना को प्रभावित किया होता है। इसलिए यह तथ्य पर आधारित होता है भले ही इसमें निहित तथ्य का स्वरूप काफी अतिरंजित एवं कल्पनापूर्ण बना दिया गया हो। इन दोनों से अलग एक लोककथा ऐसा आधार तथा गम्भीर उद्देश्य नहीं रखती किन्तु वह सामान्यतया इस तरह प्रस्तुत की जाती है कि लोगों का मनोरंजन हो सके। इस प्रकार मिथक लोक-कथा उपन्यास या छोटी कहानी की पूर्वज है।

मिथक का परम्पराओं एवं प्रथाओं के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है तथा इसके मूल में कहीं-न-कहीं धार्मिक चरित्र भावना भी अवश्य निहित

होती है। इसीलिए कल्पना तत्त्व का योग होने के बाद यह सत्य प्रतीत होती है। **आर० पेटाजोनी** का निम्नलिखित कथन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है– ''मिथक एक वास्तविक कहानी है, क्योंकि यह एक पवित्र कहानी है। ऐसा केवल इसके विषयवस्तु के कारण नहीं अपितु उन यथार्थ संस्कारमूलक कर्मकाण्डीय शक्तियों के कारण भी कहा जा सकता है जिन्हें यह अग्रसारित करता है।''

मिथक का धार्मिक कृत्यों एवं संस्कारों के साथ अटूट सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों ने मिथकों की अवास्तविकता तथा अविश्वसनीयता पर बल दिया है। मिथक शब्द आज प्रायः एक ऐसी कहानी का वाचक है जो असत्य मानी जाती है तथा माइथालाजी एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था है, जिसमें हम अब विश्वास नहीं रखते। The term myth today generally means a story which is known to be untrue and mythology a religious system in which we no longer belive.

वास्तव में प्रश्न विश्वास या अविश्वास का नहीं है, क्योंकि मिथ इतिहास नहीं है। यह कोई सत्य घटना नहीं है, यह कोई विशुद्ध धार्मिक तत्त्व भी नहीं है। ऐसी स्थिति में वर्तमान में इनकी विश्वसनीयता का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। धार्मिक विचारों की दृष्टि में भी मिथकों का स्वरूप सांकेतिक है। धर्म के साथ सम्बद्ध होकर मिथक में दिव्यता, अलौकिकता तथा विश्वासमूलक सन्दर्भ जुड़ जाते हैं। धर्म से ही मिलता-जुलता विचार संस्कृति के क्षेत्र में भी प्राप्त होता है। संस्कृति के विकास में मिथकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। किसी समाज के लोगों की जातीय संस्कृति का स्वरूप मिथकों में प्रतिबिम्बित दिखायी पड़ता है

मिथक और मनोविज्ञान–मिथक के अध्ययन में मनोविज्ञान के विकास ने भी पर्याप्त रुचि उत्पन्न की। मनोविज्ञान ने इसके महत्त्व की एक नयी दिशा की ओर संकेत किया। फ्रायड और युंग द्वारा स्पप्नों के विश्लेषण तथा काव्य को मानवीय स्वप्नों के साथ सम्बद्ध करने के बाद अनेक विचारकों ने काव्य में मिथकों की भूमिका पर नये सिरे से विचार किया। मनोविज्ञान सिद्ध करता है कि तमाम सुख-सुविधाओं के बीच रहने वाले आज के आदमी के भीतर कहीं-न-कहीं आदिम आदमी भी अवश्य वर्तमान है। आज की नीरस एवं यान्त्रिक जिन्दगी से ऊबा हुआ आदमी निद्रा में आदिम प्रकृति के स्वप्नों द्वारा ही मनोरंजन करता है। यही प्रवृत्ति मिथक को जन्म देती है। मिथ कविता को विपरीत प्रकृति वाले विज्ञान के आक्रमणों से बचाता है। मिथ एक नवीन साधन है जिसके माध्यम से कल्पना की प्रकृति का अध्ययन किया जा सकता है।

मैक्सिम गोर्की देवी-देवताओं की कल्पना को धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत सीमित न करके ललित साहित्य की संज्ञा देते हैं। उनके शब्दों में वोल्गा, उराल क्षेत्र तथा साइबेरिया में बसी अनेक जातियों ने कितनी ही शताब्दियों पूर्व घने जंगलों, दलदली इलाकों, पूर्व की बंजर स्तेपियों तथा उत्तर के टुंड्रा में गीतों, कहानियों, वीर गाथाओं तथा देवी-देवताओं के बारे में पौराणिक कथाओं की रचना करके अपने दारुण नीरस जीवन को समृद्ध तथा सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। देवी-देवताओं सम्बन्धी कल्पनाओं को धार्मिक साहित्य कहा जाता है, मगर वास्तव में यह ललित साहित्य ही है। समसामयिक अव्यवथा को ठोस और गहरे रंग से चरितार्थ करने हेतु कवियों ने पराकथाओं और मिथकों का भरपूर इस्तेमाल किया है। उदाहरणार्थ, मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में मिथकीय प्रतीकों तथा सपनों का अधिकांश प्रयोग किया है। उनकी प्रत्येक कविता भूतप्रेत, ब्रह्मराक्षस, भैंसे, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों आदि से विन्यस्त नया मिथक रचती है। मुक्तिबोध के मिथक छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त रहते हैं, फिर उनकी टकराहट एक व्यापक यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है। मिथकों में असम्भव के स्थान पर सम्भव का, यथार्थ के स्थान पर अयथार्थ का तथा अविरोधी के स्थान पर विरोधी का चयन शेक्सपियर का पैटर्न रहा है, जिसमें अस्तित्व का संकट झाँकता रहता है। रचनाकार अपने युगीन सत्य के उद्घाटन और जटिल मानसिकता के रेखांकन में मिथकों का ही सहारा लेता है और रचनाकार के मूल्यांकन के लिए समीक्षक को उसी तत्त्व को हथियार के रूप में इस्तेमाल करना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह प्रवृत्ति बौद्धिक विचार-विश्लेषण-प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक अधिक है। इसके अतिरिक्त यह अनेक विचारधाराओं से प्रभावित भी है। 'कामायनी' के मूल्यांकन से ही हिन्दी साहित्य में मिथक पर विचार किया जाने लगा, जिसके आधार पर यह कहा गया कि 'कामायनी' का मनु वेदकालीन मनु न होकर प्रसादकालीन है। वह उस संक्रमण काल का मनु है जिसमें भारतीय समाज सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से कटकर औद्योगिक तथा यांत्रिक होने की दिशा में अग्रसर है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की 'कैकेयी' रचना में दशरथ और कैकेयी दोनों ही समकालीन षड्यन्त्र प्रधान राजनीति की विडम्बनाओं के संवाहक हैं। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' का युधिष्ठिर भयानक महायुद्धों के दुष्परिणामों से आतंकित होकर 'इतिहास' पर रोता है।

इसी प्रकार धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग', 'कनुप्रिय' नरेश मेहता का 'संशय की एक रात', नागार्जुन का 'भस्मासुर', दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ

विषपायी' जैसी रचनाएँ मिथक के कलेवर में कई प्रकार की समकालीन समस्याओं की जटिलता का विश्लेषण करती हैं।

नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर का 'पहला राजा', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', डॉ० शंकर शेष का 'अरे मायावी सरोवर' मिथकीय प्रयोग की नवता के सुन्दर उदाहरण हैं। उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वयं रक्षाम:', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'पुनर्नवा', नरेन्द्र कोहली का 'अवसर' इस प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन सारी रचनाओं में मिथकीय पात्रों, घटनाओं, मूल्यों तथा विचारों को एक नया आयाम दे दिया गया है कि वे समसामयिक परिवेश के कटु यथार्थ बन गये हैं। इन रचनाकारों की मिथकीय चेतना में सन्तुलन तथा प्रयोगशीलता का अद्भुत कलात्मक समन्वय है।

मिथकों के प्रकार—संस्कृति तथा साहित्य में मिथकों के प्रयोग के प्रमुख रूपों के आधार पर मिथकों के अनेक वर्ग बनाये जा सकते हैं। मिथकों के कुछ प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं—

(1) सृष्टि की उत्पत्ति, विकास तथा लय से सम्बन्धित मिथक। (2) प्रकृति के रचना-तत्त्वों—भूमि, जल, आकाश, वायु और अग्नि से सम्बन्धित मिथक। (3) प्रकृति के अवयवों—समुद्र, नदी, पर्वत, जंगल आदि से सम्बन्धित मिथक। (4) देवताओं के जन्म से सम्बन्धित मिथक। (5) मानव की उत्पत्ति विषयक मिथक। (6) पारिवारिक एवं राष्ट्रीय मिथक। (7) स्वर्ग और नरक सम्बन्धी मिथक। (8) भूत-प्रेत तथा अलौकिक शक्तियों से सम्बन्धित मिथक।

मिथक का महत्त्व—मिथक काव्यार्थ को सघन, व्यापक एवं विस्तीर्ण बनाता है। यह काव्यार्थ को जातीय संस्कृति एवं चेतना से सम्बद्ध करके अधिक संवेद्य एवं प्रभावपूर्ण बनाता है। मिथक काव्य के प्रतीकात्मक आयाम को सुदृढ़ बनाकर रमणीयता एवं लालित्य में वृद्धि करता है। मिथक एक कालिक एवं युगीन यथार्थ को शाश्वत सन्दर्भों के साथ सम्बद्ध करने का माध्यम है। मिथक परम्परा एवं आधुनिकता तथा यथार्थ एवं आदर्श के बीच सेतु के रूप में प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करता है। यह काव्य-भाषा को विज्ञान की भाषा से अलग तथा विशिष्ट बनाता है। मिथक कवि-कल्पना को अभिव्यक्ति का ठोस माध्यम प्रदान करता है। मिथक काव्यार्थ के साधारणीकरण तथा सम्प्रेषण का प्रभावशाली माध्यम है।

मिथक का अटूट सम्बन्ध जातीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास के साथ होता है। भाषा एवं साहित्य के विकास में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। मिथक मनुष्य की कल्पनात्मक तथा कलात्मक क्षमता पर आधारित तथा प्रतीकात्मक महत्त्व से संयुक्त होता है। मिथक प्रायः अतीत से सम्बन्ध

रखता है तथा इसका धर्म तथा संस्कारों से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। इसमें लोक जीवन तथा लोकवार्ता के तत्त्वों का भी उल्लेखनीय योगदान है। मिथक भावना एव विश्वास पर आधारित होते हैं। ये मानव की आदर्श-कल्पना पर आधारित होते हुए भी काव्य में यथार्थ सन्दर्भों को मुखरित एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। अतीत से अपने रचना तत्त्वों को ग्रहण करते हुए भी मिथक वर्तमान सन्दर्भ में उपयुक्त होता हैं तथा मानव को भविष्यत् का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है तथा सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक जीवन, धर्म, अध्यात्म, नीति आदि विभिन्न क्षेत्रों से यह अपने तत्त्वों को ग्रहण करता है। मिथक परम्परागत एवं रूढ़िपरक होते हुए भी अत्यन्त गतिशील होता है तथा युगीन सन्दर्भों को परम्परा के साथ जोड़कर सार्थकता एवं व्यापकता प्रदान करता है। यान्त्रिक तथा नीरस जीवनक्रम से ऊबे हुए आज के आदमी के लिए भी मिथक प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण है। मिथक का सम्बन्ध व्यक्ति से नहीं अपितु समूह से होता है। सामूहिक विश्वास मिथक का अनिवार्य तत्त्व है। मिथक इतिहास नहीं होता किन्तु सभ्यता के अनेक स्तरों पर इतिहास की तरह माना जाता है और इतिहास की साधन-सामग्री के रूप में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। मिथक में अलौकिकता एवं दिव्यता का तत्त्व भी निहित होता है। प्रकृति का विशाल क्षेत्र, देवी-देवता और पौराणिक सन्दर्भ मिथक के प्रमुख क्षेत्र हैं। मिथक आख्यानमूलक होता है तथा काव्यात्मकता इसका प्रमुख गुण है।

□

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

साहित्य को अभिव्यंजनावाद से जोड़ने वाले बेनेदितो क्रोचे का जन्म इटली में हुआ था। वे एक काव्य-मीमांसक ही नहीं अपितु तत्त्ववेत्ता एवं गम्भीर दार्शनिक भी थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था, आत्म-दर्शन आदि अनेक विषयों पर नवीन दृष्टि प्रदान की। सन् 1900 ई० में एक गोष्ठी में उन्होंने "Fundamental thesis of an aesthetic as scince of expression and general linguistics." शीर्षक आलेख पढ़ा था जो आगे चलकर अभिव्यंजनावाद का मूलाधार बना। वे एक प्रतिभाशाली दार्शनिक तो थे ही अतएव सौन्दर्यशास्त्र के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करके पश्चिम के काव्यशास्त्रियों को विस्मित कर दिया, क्योंकि क्रोचे से पूर्व सौन्दर्यशास्त्र की गणना आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र और तर्कशास्त्र के साथ होती थी किन्तु क्रोचे ने उसे स्वतंत्र शास्त्र बना दिया।

क्रोचे द्वारा प्रवर्तित अभिव्यंजनावाद नामक काव्य कला-कला-सिद्धान्त आलोचना जगत में विशेष रूप से चर्चा का विषय बना है। उन्होंने काव्य एवं कला विषयक अपने विचारों को प्रकट करने के लिए 'एस्थेटिक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जो दो भागों में विभक्त है। इसके प्रथम भाग में सौन्दर्यशास्त्र का शास्त्रीय विवेचन तथा दूसरे भाग में सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

अभिव्यंजनावाद का स्रोत—अभिव्यंजनावाद का मूल स्रोत वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद की उस प्रवृत्ति में है, जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। आरम्भ में यह एक अत्यन्त शक्तिशाली और स्वस्थ आन्दोलन था, जिसने परम्परावाद का विरोध करके व्यक्तिवाद पर बल दिया। इसी आन्दोलन के फलस्वरूप 'कला के लिए' सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ, जिसके मानने वालों ने व्यक्तिवाद पर अगाध आस्था के कारण कहा था—'Each of them held a little candle locked up in the chamber of his soul and by the light of it saw within himself the only reality that mattered.'

प्रत्येक कलाकार अपनी आत्मा के आलोक की सहायता से वास्तविक सत्य को देख लेते हैं। वही सत्य उसे कला के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिए। इनका कथन है कि कलाकार को केवल अपनी व्यक्तिगत दृष्टि (vision) अभिव्यक्त करनी चाहिए अर्थात् सत्य को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत न कर उसकी व्याख्या अपनी आत्मा के आलोक और दृष्टि के आधार पर करनी चाहिए। ये लोग कहते थे हमारा संसार है—चाहे तो ग्रहण करो, चाहे त्याग दो, क्योंकि उनका मत था कि मनुष्य ही सब चीजों की कसौटी है—'Man is the measure of all thing.' और इस मत से किसी भी स्थिति में कोई भी इनकार नहीं कर सकता।

उनके अनुसार काव्य में प्रत्येक वस्तु ग्राह्य है, प्रत्येक अनुभूति या विचार काव्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि के मन में जीवन एवं जगत का जो भी रूप आता है, उसे व्यक्त कर देने में कोई दोष नहीं है।

जिस युग (1866–1952 ई०) में क्रोचे का जन्म हुआ उस स्वच्छन्दतावादी कला के युग में कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेते हैं और वह स्वतंत्र अभिव्यंजना नहीं कर पाता। निश्चय ही इस प्रकार की धारणाओं को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। यह मात्र अनर्गल प्रलाप है।

क्रोचे के दार्शनिक विचार—क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने कला का विवेचन दर्शन की छाया में किया है। वह आत्मा की मूलतः दो क्रियाएँ मानते हैं—(1) सैद्धान्तिक और (2) व्यावहारिक। प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी के द्वारा जीवन में व्यवहार करता है। वह ज्ञान के भी दो प्रकार मानता है—(1) स्वयं प्रकाश या प्रतिभा-ज्ञान (Intutive knowledge) तथा (2) तर्क-ज्ञान (Concepts knowledge)। स्वयं प्रकाश व्यष्टि ज्ञान होता है, तर्क-ज्ञान सामान्य का ज्ञान होता है। प्रथम कल्पना से उत्पन्न होता है, दूसरा बुद्धि से प्राप्त होता है। प्रथम द्वारा वस्तु के बिम्बों या भावनाओं का निर्माण होता है और दूसरे का सम्बन्ध निश्चयात्मक बुद्धि से होता है और उसमें सामान्य विचारों (concepts) का बोध होता है। पहला कला का उत्पादक होता है, तो दूसरा दर्शन और विज्ञान को जन्म देता है। स्वयं-प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है। वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य भावना को अपनाकर उसे साकार मूर्त और सुन्दर रूप देती है। स्वयं-प्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता है, तो प्रज्ञात्मक ज्ञान-बोध (concepts) की। बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते है कि मनुष्य

विचारशील प्राणी है, स्वयं प्रकाश ज्ञान (कल्पना) हमारे मन में एक ऐसे प्राणी का बिम्ब अंकित कर देता है जिसमें विचार करने की क्षमता है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

बेनेदित्ते क्रोचे का काव्य सम्बन्धी विचार प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल से प्रभावित है किन्तु उसने कहीं भी उसका अन्धानुकरण नहीं किया, यही कारण है कि जहाँ उसने हीगेल की विचारधारा का अनुसरण किया है, वहीं वह उसका कठोर आलोचक भी रहा है। हीगेल ने आत्मा की त्र्यात्मक स्थिति निर्धारित करते हुए, उसकी तीन प्रवृत्तियों का जिक्र किया है जो ज्ञानात्मक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक हैं, किन्तु क्रोचे ने इनके स्थान पर आत्मा की दो ही प्रवृत्तियों को मान्यता दी है। वे कहते हैं कि आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—(1) ज्ञानात्मक अथवा सैद्धान्तिक और (2) व्यावहारिक। सैद्धांतिक प्रवृत्ति के भी वे दो भेद स्वीकार करते हैं—(1) सहजानुभूति या अन्त:प्रज्ञानात्मक क्रिया तथा (2) तार्किक क्रिया। व्यावहारिक क्रिया के भी दो भेद हैं—(1) आर्थिक क्रिया और (2) नैतिक क्रिया।

क्रोचे ने विचारात्मक क्रिया का सम्बन्ध तर्कशास्त्र से, आर्थिक क्रिया का अर्थशास्त्र से एवं नैतिक क्रियाओं का सम्बन्ध नीतिशास्त्र से माना है। उन्होंने स्वयं प्रकाश ज्ञान अथवा सहजानुभूति का सम्बन्ध काव्यकला से स्वीकार किया है, अत: काव्य के क्षेत्र में उन्होंने सहजानुभूति को महत्त्वपूर्ण माना है। क्रोचे की कला विषयक धारणा की आधारशिला सहजानुभूति या अन्त: प्रज्ञा (Intution) है जिससे अभिव्यंजना का नित्य सम्बन्ध है।

सहजानुभूति या अन्त:प्रज्ञा—इसे स्वयं प्रकाश्य ज्ञान कहा जाता है। यह व्यक्ति का ज्ञान है और कल्पना से उद्‌भूत होता है। किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान प्रमाण से होता है। न्यायशास्त्र में प्रमाणों की संख्या प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रकार की मानी गयी है, किन्तु दार्शनिक की सीमा मात्र लौकिक जगत तक ही नहीं होती। वह परम तत्त्व (Ultimate-reality) की खोज करता है तथा समग्र ब्रह्माण्ड में अनवरत चक्कर लगाता रहता है। आत्मा जैसे सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द के द्वारा सम्भव नहीं है, वह मात्र अन्त:प्रज्ञा के द्वारा ही सम्भव हैं। अतएव कवि की अन्त:प्रज्ञा ही काव्य में रूपायित होती है। कलाकार की कला भी अन्त:प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार आत्मिक अनुभूति के आधार पर ही कवि, कलाकार, दार्शनिक और योगी अन्त:प्रज्ञा की सत्ता का उद्‌घोष करते हैं।

सहजानुभूति और अभिव्यंजना का सम्बन्ध—क्रोचे ने सहजानुभूति को एक आन्तरिक अनुभूति माना है जो स्वयं प्रकाश्य है। उसे किसी अन्य साधन

से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अन्तः प्रज्ञा और अभिव्यंजना का नित्य सम्बन्ध है, दोनों की सत्ता सदा साथ रहती है।

क्रोचे का विचार है कि यह असंभव है कि हम कि.सी बात को जान सकें और व्यक्त न कर पायें अथवा जिसकी अभिव्यक्ति करते हैं उसको जान न सकें। इस प्रकार अभिव्यंजनां शब्द का प्रयोग वे व्यापक रूप में करते हैं। यह मात्र शाब्दिक अभिव्यंजना का ही बोधक नहीं है, बल्कि रेखा, स्वर, गति आदि उन सभी माध्यमों का बोधक है जिनमें चित्र, संगीत, नृत्य आदि कलाओं की अभिव्यक्ति होती है। क्रोचे की दृष्टि में अन्तःप्रज्ञा यान्त्रिक और निष्क्रिय न होकर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाला ज्ञान है और वह प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना है। वे कहते है--"Every true intution or representation is also expression. That which does not objectily itself in expression is not intution not obtain intution other wise than by making forming expressing."

पुनश्च अन्तःप्रज्ञा एवं अभिव्यंजना में तादात्म्य स्थापित करते हुए वे कहते हैं--"It is impossible to distinguish intution from expression in this congnitive process. The one appears with the other at the same insstant, because they are not two but one."

कला सम्बन्धी विचार--क्रोचे की दृष्टि में कला एक आंध्यात्मिक प्रक्रिया है। वह मानता है कि यदि कलाकार के मनःपटल पर कोई बिम्ब मूर्त हो उठता है, तो फिर यह आवश्यक नहीं कि वह उसे किसी माध्यम-चित्रफलक, पत्थर या संगीत-स्वरों के द्वारा व्यक्त करे। वह कल्पना को अन्तर्मन की दृष्टि मानता है। जिस प्रकार की यह दृष्टि होगी, उसी प्रकार का रूप वह बाह्य वस्तु को प्रदान करेगी। प्रत्येक की इस दृष्टि में निजी विशिष्टता होती है। यही दृष्टि सब कुछ है। जिस कलाकार का जितना अधिक विशद प्रत्यक्षीकरण होगा, उतनी ही विशद और सफल उसकी अभिव्यक्ति होगी और चूँकि अभिव्यक्ति ही कला है, अतः उतनी ही सफल उसकी कला होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उत्कृष्टता विषय-वस्तु में न होकर दृष्टि में होती है। अतः यदि वीभत्स और कुरूप भी कलाकर के मन पर प्रभाव डालते हैं, तो वे कला का विषय बन सकते हैं। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप ही तो आज काव्य और कला में सभी प्रकार के विषय सशक्त अभिव्यक्ति पा रहे हैं। उसका स्पष्ट मत है कि काव्य-विषय का चुनाव नहीं किया जा सकता। यह कहना गलत है कि अमुक वस्तु काव्य या कला के लिए अनुचित है। कवि अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो संवेदनाएँ ग्रहण करता है, वे चाहे कुरूप और क्षुद्र ही क्यों

ने हों, उन्हें वह अभिव्यंजना प्रदान करता है। चुनाव तो इच्छा का कार्य है, आत्मा की व्यावहारिक क्रिया का कार्य है, जबकि अभिव्यंजना आत्मा की प्रतिभा क्रिया का कार्य है। अतः अभिव्यंजना (कला) का चुनाव नहीं हो सकता।

क्रोचे की दृष्टि में काव्य या कला आन्तरिक कृति है, जो बाह्य है, वह काव्य नहीं है।

"The work of art is always internal and what is called external is no longer a work of art."

संवेदनों को अभिव्यंजनात्मक रूप प्रदान करते ही कला का कार्य समाप्त हो जाता है। जब कलाकार ने अपने मानस में शब्द प्राप्त कर लिया, किसी आकृति या मूर्ति की निश्चिय एवं स्पष्ट भावना ग्रहण कर ली अथवा जब उसने किसी संगीत केअभिप्राय का बोध प्राप्त कर लिया, तो यह माना जाएगा कि 'अभिव्यंजना' उत्पन्न हो गई और वह पूर्ण हो चुकी है। "The aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of the impressions."

सहजानुभूति को शब्दों या रंगों में व्यक्त करना अतिरिक्त क्रिया, अनावश्यक कार्य मानता है। उसके अनुसार मानस-काव्य ही काव्य है और कवि द्रष्टा। कभी-कभी यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि कलाकार बाह्य अभिव्यंजना करे, पर इस बाह्य या शाब्दिक अभिव्यंजना का कला के विशुद्ध क्षेत्र से कोई सम्बन्ध न हो। कलाकार की कलाकार के रूप में स्थिति केवल उन क्षणों में रहती है जब तक अपने को प्रेरणा के क्षणों में पाता है, जीता है और ऐसा अनुभव करता है कि वह विषय के साथ तदाकार हो गया है। यदि ऐसे क्षणों कें बाद वह कला-कृति की रचना करता है तो उन क्षणों में वह सच्चा कलाकार नहीं होता। क्रोचे के इस मत को यदि उसकी सम्पूर्ण काव्य-विवेचना के समन्वित प्रकाश में देखा जाय जो उसमें पर्याप्त सत्य मिलेगा। महाकवि शेली ने भी कहा था-"When composition begins, inspiration is already on the decline." विश्व में जो भी महान् कृतियाँ निर्मित हुई हैं, वे कलाकार की मूल भावना की धूमिल छायाएँ ही तो हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यदि बाह्य अभिव्यक्ति-चित्र, मूर्ति, कविता आदि कला नही, तो वे क्या हैं? क्रोचे की दृष्टि में वे स्मृति की सहायक चीजें (aids to memory) हैं। उनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुनः प्रस्तुत (reproduce) कर लेता है, इनके कारण कलाकार की सहजानुभूतियाँ, बिम्ब आदि नष्ट नहीं होते। वह बाह्य अभिव्यक्ति को व्यावहारिक उपयोगिता के लिए स्वीकार करता है, क्योंकि कवि उसी के द्वारा अपनी अनुभूति

को दूसरों के लिए चिरकाल तक सुरक्षित रख सकता है। वह कहता है— कभी-कभी हमारे मानस में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जो प्रतिभा-ज्ञान के रूप में तो होते हैं, किन्तु उनकी इतनी संक्षिप्त या विचित्र-सी अभिव्यंजना होती हैं कि वे हमारे लिए तो पर्याप्त होते है, परन्तु अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों तक सुगमतापूर्वक सम्प्रेषित किये जाने के लिए वे पर्याप्त नहीं होते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्रोचे सम्प्रेषण, अर्थात् अपनी प्रातिभा अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाने की बात को भी स्वीकार करता है। वह वर्णन की अपेक्षा नहीं करता, केवल उसे ही प्रमुख नहीं मानता है। यदि वह वर्णन की उपेक्षा करता, तो फिर कविता का जो विवेचन और बचाव किया है, वह क्यों करता? प्रमुखत: वह आन्तरिक अभिव्यंजना को अभिव्यक्त कर देता है, क्योंकि वह मानता है कि जिसे आन्तरिक अभिव्यंजना की उपलब्धि हो जाएगी, यदि वह उसे व्यक्त करना चाहेगा, तो कर ही देगा। कबीर खिचड़ी भाषा और ऊबड़-खाबड़ शैली के होते हुए भी अपनी बात कहने में पूर्ण समर्थ रहे हैं। इसके विपरीत जिनके मानस में कृति का मूल रूप नहीं उभर पाता या जिन्हें अनुभूति की आभ्यन्तरिक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वे बाह्य अभिव्यंजना में भी असफल रहते हैं।

कला का आनन्द—क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया हो। उसकी दृष्टि में यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है, तो वह अभिव्यक्ति नहीं। वे कहते हैं—"Beauty successful expression,or better expression and nothing more because expression when it is not successful, is not expression.

क्रोचे की दृष्टि में सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला पर्यायवाची हैं। वह अभिव्यंजना को बाह्य नहीं मानसिक या आन्तरिक मानता है तथा उसे मुक्त प्रेरणा कहता है। बाह्य कलाकृतियाँ स्मृति की सामग्री मात्र है। असफल अभिव्यंजना नामक कोई वस्तु नहीं हैं। कला-सृजन की प्रक्रिया के चार सोपान हैं—अरूप संवेदन, कल्पना द्वारा उनकी आन्तरिक अन्विति, आंतरिक अभिव्यंजना और उसका शब्द, रंग-रेखा आदि के द्वारा मूर्तिकरण। इनमें से अन्तिम को क्रोचे अनिवार्य नहीं मानते। वे किसी भी कला-वस्तु को अनुपयुक्त एवं गर्हित नहीं मानते एवं चुनाव को अनावश्यक बताते हैं। उनके इन्हीं सिद्धान्तों को 'अभिव्यंजनावाद' का नाम दिया गया है।

अभिव्यंजनावाद पर आक्षेप

क्रोचे के मत पर सर्वप्रथम आपत्ति यह होती है कि वह बाह्य अभिव्यंजना को अनावश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जो

डॉ० नामवर सिंह

डॉ० नामवर सिंह का नाम मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में लिया जाता है। मार्क्सवाद के प्रति उनकी आस्था सर्वथा घोषित एवं प्रत्यक्ष हैं, फिर भी आलोचना के किसी 'वाद' के साथ उन्हें संयुक्त करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनका आलोचक-व्यक्तित्व इससे कहीं अधिक व्यापक है। यह सही है कि वे साहित्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं और साहित्य के मूल्यांकन के लिए इस दृष्टिकोण की उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं तथापि वे आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की विरासत अपने साथ लेकर अवतरित हुए हैं। इस कारण पर्याप्त स्वाभाविक रीति से आचार्य शुक्ल जैसी गम्भीरता, विवेचनाशक्ति तथा प्रखरता के साथ आचार्य द्विवेदी की प्रगतिशीलता, व्यापकता और व्यंग्यविनोदपूर्णता का मेल उनके समीक्षात्मक विचारों में दिखाई पड़ता है। इन दोनों से अलग और विशिष्ट उनकी प्रतिबद्धता है जो उनकी अन्तर्दृष्टि को एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख करती है।

प्रमुख कृतियाँ–'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' (1952 ई०), 'छायावाद' (1955 ई०), 'इतिहास और आलोचना' (1957 ई०), 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' (1962 ई०), 'कहानी : नयी कहानी') (1965 ई०),

'कविता के नये प्रतिमान' (1968 ई०), 'दूसरी परम्परा की खोज' (1982 ई०) तथा 'वाद-विवाद संवाद' (1989 ई०) आदि उनके समीक्षात्मक निबन्धों के प्रमुख संग्रह हैं।

इन समीक्षात्मक कृतियों में से अनेक कृतियाँ स्पष्टतः मार्क्सवादी समीक्षादर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण आयामों के विवेचन से सम्बन्धित हैं किन्तु अनेक कृतियाँ ऐसी हैं जिनके तटस्थ गम्भीर विचारक, अध्येता और व्याख्याता के रूप में वे अपनी छाप छोड़ते हैं। नयी कविता और नयी कहानी जैसे समकालीन विषयों पर जिस आधिकारिक रूप से उन्होंने स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, उसी अधिकार के साथ उन्होंने प्रयोगवादी साहित्यधारा की अत्यन्त तर्कसंगत एवं प्रखर आलोचना भी की है। अपनी सुचिंतित स्थापनाओं के अनुसार युक्तियुक्त खंडन-मंडन की प्रक्रिया से गुजरते हुए जब वे अधिकारपूर्वक दो टूक निर्णय प्रस्तुत करते हैं तो उनके गुरु गंभीर व्यक्तित्व में आचार्य शुक्ल की छाया अवश्य दिखायी पड़ती है।

प्रयोगवाद और रूपवाद की आलोचना—डॉ० नामवर सिंह प्रयोगवाद और रूपवाद जैसे काव्यान्दोलनों के कटु आलोचक हैं। सन् 1943 में जब 'प्रथम' तारसप्तक या प्रकाशन हुआ और पाश्चात्य साहित्यिक विचारधाराओं से उल्लेखनीय प्रभाव ग्रहण करके विकसित प्रयोगवाद और रूपवाद की हिन्दी साहित्य में धूम मची हुई थी, डॉ० नामवर सिंह ने इसके स्थायित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया। प्रयोगवादी काव्यधारा को अज्ञेय जी का गतिशील नेतृत्व प्राप्त था और इसके पीछे नवीन पाश्चात्य विचारधाराओं की सुदृढ़ वैचारिक पृष्ठभूमि भी थी। उन दिनों उससे टकराना तथा उसे काव्यरचना का एक सर्वथा अस्थायी और महत्त्वहीन दौर बतलाकर 'नयी कविता' के कलेवर में 'प्रगतिवाद' का ही नवीन उत्थान प्रतिपादित करना डॉ० नामवर सिंह जैसे तेजस्वी व्यक्ति के वश की ही बात थी। उनकी स्थापना का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि साहित्य की रूपवादी विचारधारा का जिस तीव्र गति से विकास हुआ था उसी तीव्रता के साथ एक दशक से भी कम की अवधि में उसका आकर्षण समाप्त होने लगा और नयी कविता के साथ ही साथ प्रगतिवादी विचारों को लोकप्रियता प्राप्त होने लगी।

'प्रयोगवाद' के विरोध के लिए डॉ० नामवर सिंह के पास एक सुचिंतित काव्यशास्त्र है। उनके तर्क अकाट्य हैं। 'कलात्मक सौन्दर्य के आधार' शीर्षक समीक्षात्मक निबंध में प्रयोगवादियों द्वारा काव्य के रूप को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करने की उन्होंने कटु अलोचना की है, जिसका नमूना निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है—"रूपवादी अथवा प्रयोगवादी रचना का यह

मतलब नहीं है कि उसमें किसी विचार या भाव का सर्वथा अभाव हो, बल्कि यह कि उसमें विचार या भाव से अधिक शिल्प का उभार हो। जब रचना में सार्थक और साकांक्ष शब्दों का प्रयोग है तो कुछ-न-कुछ अर्थ होगा ही। अर्थ के साथ किसी-न-किसी विचार या भाव का अनुबंध स्वाभाविक है, लेकिन रूपवादी रचना में विचार या भाव की आन्तरिक समृद्धि नहीं मिलती। साफ शब्दों में रूपवादी उस बतकहे की तरह हैं जिसमें बात करने का कौशल तो खूब हो, परन्तु कहने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण बात न हो और उसके साथ घंटे दो घंटे बात करने के बाद भी कुछ हासिल न हो। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी के ये प्रयोगवादी कवि कभी विषयवस्तु की चर्चा नहीं करते। रूप, कला और शैली-शिल्प की इतनी चर्चा, लेकिन जिस वस्तु से ये सभी चीजें, सजीव, सशक्त और सुन्दर होती हैं, उनके विषय में चुप रहने का और क्या अर्थ हो सकता है?''

वे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा को पूरा महत्त्व प्रदान करते हैं किन्तु भाषा काव्य का साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसकी कारीगरी में ही सिमट जाना निश्चय ही साहित्यकार का भटकाव है। उसी निबन्ध में उनका कथन है—''साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। इसलिए साहित्य में कलात्मक सौन्दर्य लाने के लिए उस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसी की कारीगरी में सिमट जाना कोरा रीतिवाद अथवाद रूपवाद है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि कोई साहित्यकार ऐसा नहीं कर सकता किन्तु व्यवहार में बड़े-बड़े साहित्यकार इस राह पर भटकते देखे गये हैं।''

साहित्यकार यदि व्यक्तिवादी मनोवृत्ति अपनाता है और यह मानकर चलता है कि क्षण-विशेष में उसने जो अनुभव किया, वही सत्य है तो यह उसकी भ्रान्ति है। 'अनुभूति और वास्तविकता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने सामान्यतया से बचने के इस प्रयास को निराधार बतलाया है, क्योंकि वास्तविकता व्यक्तिनिरपेक्ष भी हो सकती है—''इम सामान्यतया से बचने के लिए व्यक्तिवादी लेखकों ने निश्चय कर लिया है कि जो कुछ अपनी सीमा में है, वही सत्य है, बाकी से अपना कोई मतलब नहीं। लेकिन इस धारणा से व्यक्तिनिरपेक्ष वास्तविकता का न होना तो साबित नहीं हो जाता। संसार में और भी तो लोग हैं उनकी भी अपनी-अपनी धारणाएँ हो सकती हैं।''

भावना के रूप ...

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी में मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख उन्नायक माने जाते हैं। वे मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्ध कवि, चिंतक, विचारक, निबन्धकार और आलोचक थे। वे एक विशिष्ट कोटि के मार्क्सवादी समीक्षक थे। मार्क्सवाद उनकी दृष्टि को कहीं प्रतिबंधित नहीं करता। उनकी विचारधारा साहित्यानुशीलन में बाधक नहीं बनती। वे किसी साहित्य-धारा से परहेज नहीं करते। समुचित अध्ययन, विश्लेषण एवं विवेचन के उपरान्त ही वे अपना मन्तव्य प्रकट करने के पक्षधर थे। इस प्रकार एक विशिष्ट श्रेणी के सहृदय मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में डॉ० शर्मा ने हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उनके आलोचक व्यक्तित्व का परिचय उनके समीक्षा ग्रन्थों से प्राप्त किया जा सकता है।

प्रमुख कृतियाँ–'प्रेमचन्द' (1941 ई०), 'भारतेन्दु युग' (1943 ई०), 'निराला' (1946 ई०), 'प्रगति और परम्परा' (1949 ई०), 'साहित्य और संस्कृति' (1949 ई०), 'प्रेमचन्द और उनका युग' (1952 ई०), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (1953 ई०), 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' (1954 ई०), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्या' (1954 ई०), 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना' (1955 ई०), 'लोकजीवन और साहित्य' (1955 ई०), 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' (1956 ई०), 'आस्था और सौन्दर्य' (1961 ई०), 'भाषा और समाज' (1968 ई०), 'निराला की साहित्य-साधना' (तीन खण्ड 1969, 72, 76 ई०) 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी साहित्य की विकास-परम्परा' (1975 ई०), 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' (1977 ई०), 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' (1978 ई०), 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' (1979, 80, 81 ई० में तीन खण्ड), 'परम्परा का मूल्यांकन' (1981 ई०), 'भाषा, युगबोध और कविता' (1981 ई०), 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (दो खण्ड 1988 ई०), 'कथा विवेचना और गद्य-शिल्प' (1992 ई०), 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' (1984 ई०), 'लोक जागरण और हिन्दी साहित्य-संपादन' (1985 ई०), 'हिन्दी जाति का साहित्य' (1986 ई०), 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ' (1986 ई०), 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' (1986 ई०)।

पाँच दशकों से भी अधिक लम्बी अवधि में मार्क्सवादी विचारधारा, भाषा विज्ञान और समकालीन दार्शनिक विचारधाराओं का गम्भीर चिंतन मनन

करते हुए डॉ० शर्मा का आलोचक व्यक्तित्व क्रमशः ऊँचाई की ओर अग्रसर होता गया है। प्रथम 'तारसप्तक' के एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार के रूप में काव्य सृजन से प्रारम्भ करते हुए उन्होंने काव्य समीक्षा के क्षेत्र में पदार्पण किया और स्वयं को पूर्णतः सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा की समृद्धि के लिए समर्पित कर दिया। वे निरन्तर रचनाशील रहे किन्तु अभी तक उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के समुचित मूल्यांकन की दिशा में यथेष्ट प्रयास नहीं हो पाया है तथापि उनके आलोचक व्यक्तित्व की कतिपय प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है—

अध्ययनशीलता—डॉ० रामविलास शर्मा की सबसे बड़ी विशेषता उनकी अध्ययनशीलता है। न केवल भारतीय साहित्य का, अपितु पाश्चात्य साहित्य का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्रायः मूल स्रोतों के अध्ययन का प्रयत्न किया है। इसके साथ ही उनकी रचनाओं को देखने से यह पता चलता है कि उन्होंने जिन कृतियों को अध्ययन के लिए चुना उनका सम्पूर्ण अध्ययन करने का प्रयास किया। निराला, भारतेन्दु या अन्य रचनाकारों पर उनकी आलोचना को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने एक सहृदय पाठक की तरह पूरा साहित्य आद्यन्त पढ़ने के बाद लिखना प्रारम्भ किया है। यह सावधानी और आलोचना की यह गम्भीरता कम लोगों में दिखायी पड़ती है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—अध्ययन के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण उनकी प्रमुख विशिष्टता है। वे स्पष्टतः मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन से प्रभावित होते हुए साहित्य में युग के अन्तर्विरोधों तथा द्वन्द्वों की छाया देखने का प्रयास करते हैं। वे यह मानते हैं कि समाज के ह्रास और विकास का प्रतिबिम्ब साहित्य में अवश्य दिखायी पड़ता है किन्तु इसके साथ ही प्रत्येक युग के साहित्य में प्रगति और विकास की ओर उन्मुख प्रवृत्तियों की खोज भी की जा सकती है। आलोचना का यह दायित्व है कि वह साहित्य में निहित इन प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराए। कोई साहित्य युगजीवन की प्रगति की ओर उन्मुख करने में किस सीमा तक सफल है, इस आधार पर ही उसकी श्रेष्ठता का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के भक्तिकाल का साहित्य निर्गुण अथवा सगुण भक्ति और ईश्वर-चिंतन के कारण उल्लेखनीय नहीं है। उसका महत्त्व इस कारण है कि उसमें अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोक-जागरण के स्वर सुनायी पड़ते हैं।

यह ऐतिहासिक दृष्टि उनकी आलोचना-पद्धति को उदार एवं व्यापक बनाती है तथा वे ऐसी साहित्यधाराओं को न्याय देने में समर्थ हो पाते हैं जिन्हें

सामान्यतया अनेक मार्क्सवादी आलोचक पूर्वाग्रह के कारण महत्त्व नहीं देते। कहने की आवश्यकता नहीं कि शर्माजी छायावाद, तुलसीदास और सन्त-साहित्य आदि की संतुलित समीक्षा प्रस्तुत करने में इसी विशेषता के कारण सफल रहे हैं।

'निराला' की भूमिका में उनका निम्नलिखित कथन उनकी ऐतिहासिक दृष्टि के महत्त्व को संकेतित करता है—"आज यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम छायावादी कवियों के इस पक्ष की ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करें। इस तरह की समीक्षा के बिना हम अपनी परम्परा की कड़ियाँ न जोड़ सकेंगे और न हमारे नये साहित्य का आन्दोलन सही प्रगति कर सकेगा। इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि छायावाद में ऐसी असंगतियाँ भी थीं जिनसे उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया। उसके कर्दममय जल में कुछ साहित्यिक अब भी तैरकर पार लगाने का वृथा प्रयास कर रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि छायावाद की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से हिन्दी का नया साहित्य अपनी रक्षा कर पा रहा है। घुन की तरह वे भीतर ही भीतर साहित्य के वटवृक्ष को खाती जा रही हैं। वह वृक्ष इस रोग का निदान किये बिना पृथ्वी और वायु से पूर्ण जीवनी शक्ति पा नहीं सकता। इसलिए छायावाद का प्रगतिशील पक्ष और इसके साथ उसकी पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ इन दोनों के ही सन्तुलन एवं मूल्यांकन की आवश्यकता है।"

डॉ० शर्मा की आलोचना पद्धति विशिष्ट है। छायावाद के भीतर प्रगतिशीलता के तत्त्व ढूँढ़ने तथा प्रगतिशील कही जाने वाली कविता के भीतर निहित छायावाद के तत्त्वों का पता लगाने में समान रूप से उनकी प्रवृत्ति है।

प्रासंगिकता—डॉ० शर्मा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशिष्टता साहित्य की प्रासंगिकता के निरूपण से सम्बन्धित है। जो भी साहित्य समकालीन जीवन की दृष्टि से प्रासंगिक है, उसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता. 'भारतेन्दु-युग' की भूमिका में उनका कथन उल्लेखनीय है—"यह स्वाभाविक है कि किसी बीते हुए युग के बारे में लिखते हुए हमारा ध्यान अपने युग और उसकी समस्याओं की ओर भी जाय। यदि मुझे भारतेन्दु-युग से आज के युग का एक घनिष्ठ सम्बन्ध न दिखलायी पड़ता तो मैं यह पुस्तक अभी न लिखता। यह सोचकर कि आज की समस्याओं को सुलझाने में हमें उस युग से कुछ प्रेरणा मिल सकती है, मैंने इसे लिखना आरम्भ किया था।"

भारतेन्दु-युग के लेखकों का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने अपनी आँखों में 'ब्रजभाषा-प्रेम' की पट्टी न बाँधकर गद्य की भाषा में भी प्रयोग किये जिससे नयी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त हुआ। उस युग के दायरे में यह उन लेखकों

की प्रगतिशीलता थी जो शर्मा जी के अनुसार उनके साहित्य को महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक बनाती है।

परम्परा से उदात्त तत्त्वों का ग्रहण—डॉ० शर्मा प्रगतिवादी आलोचक होते हुए भी परम्परा विरोधी नहीं हैं। वह परम्परा का सम्मान करने तथा परम्परा से ग्राह्य तत्त्वों को आत्मसात् करने पर बल देते हैं। 'संस्कृति और साहित्य' की भूमिका में उनका कथन उल्लेखनीय है—''यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को भी ग्रहण करना चाहिए।''

प्रगतिशीलता एवं स्पष्टवादिता—डॉ० शर्मा असंदिग्ध रूप से जनवादी आन्दोलन से सम्बद्ध तथा मार्क्सवादी थे। सर्वहारा के हितों के संरक्षण, पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन तथा समतामूलक समाज की स्थापना को ध्यान में रखते हुए उपयोगिता की कसौटी पर साहित्य के मूल्यांकन के वे पक्षधर थे। उनका स्पष्ट मत है—''जो पूँजीवाद या साम्राज्यवादी की खुशामद करे, उन्हें स्थायी बनाने में मदद करे, प्रगति के मार्ग पर काँटें बिछाये, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोंटकर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उनसे सभी लेखकों और पाठकों को सावधान रहना चाहिए।''

आलोचक के रूप में डॉ० शर्मा की एक अन्य विशेषता उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता है। वे चिन्तन और विश्लेषण द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को बिना लाग लपेट के प्रस्तुत करने के अभ्यस्त हैं। डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक 'विचार और अनुभूति' की आलोचना करते हुए उनका यह कथन इसी विशेषता की ओर इंगित करता है—''नगेन्द्र जी के विचार उन्हें एक कदम आगे ढकेलते हैं तो उनकी अनभूति उन्हें चार कदम पीछे ले जाती है। इस पुस्तक का नाम एक कदम आगे और चार कदम पीछे भी हो सकता था।'' ऐसी व्यंग्यपूर्ण स्पष्टवादिता कम समीक्षकों में देखने को मिलती है।

तुलनात्मक, विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति—डॉ० शर्मा की आलोचनात्मक कृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने किसी कृति, कृतिकार या किसी युग के साहित्य की समीक्षा करते समय तुलनात्मक, विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धतियों का आश्रय ग्रहण किया है। जहाँ कहीं भी आवश्यक होता है वे इन पद्धतियों के उपयोग से अपने आलोचनात्मक निष्कर्षों को वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं।

साहित्य विषयक मान्यताएँ—रामविलास शर्मा की समीक्षात्मक कृतियों में यत्र-तत्र साहित्य-समीक्षा के मानदण्डों के विषय में महत्त्वपूर्ण विचार उपलब्ध

होते हैं। उनकी अपनी समीक्षा-पद्धति पर इन मानदण्डों का यथेष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। साथ ही ये मानदण्ड एक नयी सामाजिक समीक्षा के विकास में भी उल्लेखनीय योगदान करते हैं। साहित्य के विषय वस्तु के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण भौतिकवादी था। वे कहते हैं–"कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य-रचना के लिए निर्णायक महत्त्व ही नहीं है। निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है।" भाषा की अपेक्षा विषयवस्तु का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं–"आजकल कुछ आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की विवेचना से बचने के लिए भाषा की चर्चा करना पर्याप्त समझते हैं। वे ये तर्क भी देते हैं कि साहित्य में विषयवस्तु को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए भाषा की चर्चा करना ही काफी है। इसके विरोध में कहा जा सकता है कि जब दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तब विषयवस्तु की चर्चा भी पर्याप्त हो सकती है, चर्चा के लिए भाषा ही क्यों चुनी गयी। कारण यह है कि ऐसे लोगों के लिए भाषा और विषयवस्तु का प्रगाढ़ सम्बन्ध, साहित्य की विषयवस्तु उसकी भाव-विचार सम्पदा को नकारने के लिए है, वे यान्त्रिक दृष्टि से भाषा का रूपात्मक विवेचन करते हैं।"

काव्य समीक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार उसकी विषयवस्तु है। काव्य के विषयवस्तु का मूल्यांकन ऐन्द्रियबोध पर आधारित भाव-वैभव के आधार पर ही किया जा सकता है। युग परिवर्तन के बीच ऐन्द्रियबोध ही सबसे अधिक स्थायी है। इस पर आधारित भावबोध का स्थायित्व भी असंदिग्ध है। काव्य का कला-पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसकी तुलना में उसके विषयवस्तु वाला पक्ष अवश्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐन्द्रियबोध के धरातल पर काव्य-समीक्षा की पद्धति विकसित हो सकती है किन्तु काव्य-रचना ऐन्द्रियबोध की मुखापेक्षी नहीं है। भाषा विज्ञान पर आधारित रूपात्मक समीक्षा की उपयोगिता संदिग्ध है, क्योंकि इसमें विषवस्तु के अध्ययन को अपेक्षित महत्त्व नहीं प्रदान किया जाता। आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुसार साहित्यधारा में परिवर्तन स्वाभाविक है किन्तु यह साहित्यिक समीक्षा का केवल एक सीमित पक्ष मात्र है। इस प्रकार प्रत्यक्षतः मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी डॉ० रामविलास शर्मा का साहित्यचिन्तन पर्याप्त वस्तुनिष्ठ, मूल्यपरक एवं उदार है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद उस कलेवर के साहित्यचिन्तक का व्यक्तित्व उनमें ही देखा जा सकता है। विचारधारा के स्तर पर मूलभूत भिन्नता रखते हुए भी वे स्वयं आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति को आदर्श मानते हैं और अपने को उसी पद्धति के साथ सम्बद्ध घोषित करते हैं। इस प्रकार डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी प्रगतिवादी

आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, हिन्दी आलोचना के वर्तमान स्वरूप के विकास में भी उनका उल्लेखनीय योगदान है।

डॉ० नगेन्द्र

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र का विशिष्ट स्थान है। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में उन्होंने लम्बे समय तक हिन्दी के उच्चस्तरीय अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसन्धान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसके साथ ही सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हिन्दी आलोचना की विशिष्ट